मानवीय मूल्यों के ह्रास का यक्ष-प्रश्न : मानव

डॉ० रामजी सिंह

अध्यक्ष, गांधी विचार विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर–७

मानवीय मूल्यों के ह्रास को लेकर भारत ही नहीं, विश्व में आज जितनी चिन्ता प्रकट की जा रही है और उन्हें सुदृढ़ करने के लिए जागतिक स्तर पर "नैतिक अभ्युत्थान" M. R. A., के नाम पर जितने तरह के प्रकट एवं प्रच्छन्न प्रयत्न हो रहे हैं, उनमें अधिकांश समस्याओं के मूल में जाने का साहस नहीं करते। नैतिकता हो या नैतिक मूल्य, शून्य से उद्भूत नहीं होते। वे सब समाज की राजनीति, समाज-व्यवस्था, संस्कृति आदि की उपज होते हैं। व्यक्ति सामाजिक जीव है और वह शिक्षा, संस्कार जीवन मूल्य आदि सब समाज से ही प्राप्त करता है। चिन्तन सब समाज सापेक्ष होता है, तभी उसमें यथार्थता भी होती है, अन्यथा तो वह मात्र बुद्धि-विलास एवं तात्त्विक गगन विहार हो जाता है। अफलातूं का प्रत्ययवाद, तात्त्विक चिन्तन का चाहे जितना भी प्रकृष्ट उदाहरण हो, शंकर का "मायावाद" एवं बैडले का "आभासवाद" तत्त्वमीमांसा का जितना भी सर्वोत्कृष्ट प्रतिरूप हो, वास्तविक जीवन को वह दिशानिर्देश नहीं दे सकता। इसी तरह भारतीय तर्क में जाति, जल्प कौशल तथा आधुनिक भाषा विश्लेषण से भले ही विचार एवं चिन्तन में स्पष्टता मिलती हो, इसे हम दर्शन के वर्ग में नहीं रख सकते। भाषा के व्याकरण का महत्त्व है, लेकिन वह सृजनात्मक एवं सार्थक चिन्तन का ध्येय नहीं बन सकता। अतः इन विद्वानों द्वारा मानवीय मूल्य को समाज से जोड़ने के प्रयास को मैं अत्यन्त शुभ मानता हूँ।

लेकिन मानवीय मूल्य और समाज में अन्तःसम्बन्ध के विषय में चर्चा करने के पूर्व हमें मानव और समाज के सम्बन्धों पर एक दृष्टि स्थिर करनी ही होगी। लेकिन वह तभी स्पष्ट हो सकती है, जब हम मानव के स्वरूप को समझ लें। मामव कोई चेतना शून्य जड़ तत्त्व नहीं है, वह चेतन गतिशील एवं प्रतिक्रिया प्रस्तुत करने वाला प्राणी है। वह किसी मांस बेचने वाले की दूकान में पड़े हाड़-मांस का निर्जीव लोथड़ा नहीं, उसमें संवेदन, संवेग आदि भरे पड़े हैं। जड़ तत्त्व की भाँति उसकी प्रतिक्रिया बिलकुल यान्त्रिक नहीं होती, वह तो कभी अपने भाव और संवेग का दास दीखता है, कभी उसका नियामक एवं नियन्ता। यह ठीक है कि रोटी के बिना वह जी नहीं सकता, लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि केवल रोटी से ही वह नहीं जीता है, कभी तो वह विश्वामित्र के उच्चासन पर जाकर भी भूख की ज्वाला को शान्त करने के लिये धर्म-अधर्म को ताक पर रखकर चाण्डाल के यहाँ जाकर निषिद्ध प्राणी का अभक्ष्य मांस खाकर अपनी प्राण रक्षा करता है, लेकिन कभी रन्तिदेव की तरह भूख से अत्यधिक पीड़ित रहकर भी अपने आगे की थाल अतिथि को बढ़ा देता है, दधीचि बनकर परहित के लिये सहर्ष अपना अस्थिदान और कर्ण बनकर शरीर-चर्मयुक्त कवच भी दे देता है। आधुनिक समय में भी वह मार्क्स बनकर पीड़ित एवं पददलित मानवता के लिये अपना सुख एवं सौभाग्य भूलकर भगवान बुद्ध की तरह "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" यज्ञ में अपने को अभ्यर्पित कर देता है। संक्षेप में, मानव-जीवन की केवल आर्थिक और भौतिक व्याख्या करना अनैतिहासिक तो है ही, अ-मनोवैज्ञानिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी है : मनुष्य को स्वभाव से स्वार्थी और दुष्ट मान लेने में निखिल मानव जाति का अपमान तो है ही, निराशावाद भी इसमें कमाल का है। विशुद्ध तत्वज्ञान की दृष्टि से भी, यदि मानव में अन्तर्निहित शुभ तत्वों को हम अस्वीकार करते हैं, तो फिर शिक्षण-प्रशिक्षण द्वारा संस्कार-परिष्कार के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जायेंगे। यही तो सत्कार्यवाद का मूल है जिसके अनुसार जिसमें जो तत्व अन्तर्निहित रूप से भी विद्यमान नहीं होंगे, उससे वह प्रकट भी नहीं हो सकता। "नहि नीलसहस्रेण शिल्पि पीतं कर्तुं शक्यते। सतः सत् जायते।" मानवीय सभ्यता का विकास भी बर्बरता से सभ्यता और स्वार्थ से परार्थ तथा परमार्थ की ओर इंगित करता है। यदि मनोविज्ञान के जीर्ण शीर्ण मूल प्रवृत्ति मूलक सिद्धान्त का भी मूल्यांकन करे, तो उसमें यदि "दुष्टता की प्रवृत्ति" का उल्लेख है तो सहयोग की वृत्ति भी है। यदि विनाश वृत्ति है तो सृजन वृत्ति भी है। शायद इसीलिये तो कहा गया है— "सुमति कुमति सबके उर रहहीं"। यथार्थ हमारा आदर्श नहीं बन सकता। जीवन संग्राम में योग्यतमकी रक्षा होती है, लेकिन "योग्यतम की रक्षा का नियम मानव जीवन का आदर्श बन जाय, तो फिर मानव की मानवीयता—करुणा, सहानुभूति, परोपकार ही नहीं, समाज परिवर्तन के लिये सारे उपक्रम के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहेगी। अतः मानव को हम भले ही भगवान न माने (तत्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि), लेकिन उसमें देवता या दिव्यता का अंश मानना ही पड़ेगा। वह ईश्वर का अंश है या नहीं (ईश्वर अंश जीव अविनाशी), यह दार्शनिक विवाद का विषय हो सकता है, लेकिन उसमें भी कई ईश्वरीय गुण हैं, हम इसे कैसे अस्वीकार कर सकते हैं। "आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" यह ठीक है कि मानव में दिव्यता के साथ दुष्टता के भी तत्व हैं, मैत्री और करुणा के साथ नृशंसता और निष्ठुरता भी उसकी वृत्ति में देखने को मिलती है। लेकिन मानव की अपूर्णता ही पशुता है और उसकी पूर्णता ही काल्पनिक देवत्व है। मानव में विकास की अनन्त सम्भावनायें हैं। वह साधु और सन्त ही नहीं, अर्हत् और सिद्ध भी बन सकता है। अतः जब हम मानव और समाज या मानवीय मूल्य एवं समाज के अन्तः सम्बन्ध पर विचार करें तो हमें मानव के स्वरूप को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिये। मानव और समाज में भी मूल्य एवं महत्व व्यक्ति का ही होना चाहिये। आखिर व्यक्ति ही तो परम पुरुषार्थ है एवं व्यक्ति के द्वारा ही समाज का निर्माण होता है। समाज की सम्पूर्ण-व्यूह रचना व्यक्ति के समग्र विकास के लिये है। जो विचारक व्यक्ति की अपेक्षा समाज को महत्व देते हैं, उनके मानस में भी व्यक्ति का कल्याण ही रहता है। व्यक्ति ही मूर्त और शाश्वत साध्य है, समाज तो साधन है, चाहे वह कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो ? समाज के शिष्टाचार, मर्यादा आदि का महत्व है, लेकिन ये सब विधान व्यक्ति के विकास को ध्यान में रखकर ही बनाये जाते हैं। समाज का वह नियम व्यर्थ एवं अस्वीकार्य हो जाता है जिससे मानव-जीवन के उदात्त मूल्य लांछित और कलंकित होते हैं। समाज एवं धर्म की रूढ़ियाँ इन्हीं कारणों से तोड़ी जाती हैं। समाज के मूल्य भी मानवीय जीवन मूल्यों के आधार पर ही पुष्पित एवं पल्लवित होते हैं। सामाजिकता (Sociability) भी एक मानवीय जीवन मूल्य है। इसी के आधार पर सहानुभूति, सद्भाव एवं परोपकार की भावना अधिष्ठित होती है। समाज अनिवार्य संस्था अवश्य है, लेकिन व्यक्ति जैसा नैसर्गिक एवं प्राकृतिक नहीं। यही कारण है कि देश-काल के अनुसार समाज की संरचना, राजनीतिक व्यवस्था, विधि-व्यवस्था आदि बदले जाते हैं। परिवार, सम्पत्ति एवं राज्य जैसी महत्वपूर्ण संस्थाओं के अस्तित्व पर भी प्रश्न उठाये जाते हैं। यही नहीं, इन्हें मानवीय विकास में बाधक मानकर इनके निर्मूलन के लिये भी प्रयास होते हैं। दूसरी ओर इनके संशोधन एवं परिष्कार होते हैं। इन बातों से यही सिद्ध होता है कि मानव हो सबसे बड़ा मूल्य है— नहि श्रेष्ठतरं किंचित् मानुषात्। सबार ऊपर मानव सत्य, ताहार ऊपर नाई। (Man is the measure of all things)"। समाज-समाज के लिये नहीं व्यक्ति के लिये होता है। जो समाज व्यक्ति के विकास में बाधक बनने लग जाता है, उसी के परिवर्तन के निमित्त सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक क्रांतियाँ हुआ करती हैं। अतः क्रांति का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिष्ठाता-देवता मानव ही होता है। मानव-निरपेक्ष क्रान्ति, नृशंसता का शिकार बनकर मानवीय मूल्यों का निर्दलन करने लग जाती है। इसी से प्रतिहिंसा एवं प्रतिक्रियाओं का अन्तहीन क्रम बंध जाता है और मानवता कराहती रहती है। मानवीय जीवन मूल्य और मानव के मूल्य के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो मानव की स्वायत्तता और प्रतिष्ठा का ख्याल नहीं करेंगे, वे मानवीय मूल्य के अधः पतन पर चाहे जितनी भी चिन्ता करेंगे, व्यर्थ है। इसलिये "मानव" ही मानवीय जीवन मूल्य का यक्ष—प्रश्न है।

मानव की सबसे बड़ी अभीप्सा है—मुक्ति। वह अनेक प्रकार के बन्धनों में पड़ा हुआ है, इसलिये मुक्ति उसकी बड़ी चाह है। अभाव, अज्ञान और अन्याय के बन्धनों में पड़ा मानव हमेशा मुक्ति के लिये छटपटाता रहता है। अभाव उसकी प्रतिभाओं को कुंठित करता है। अज्ञान उसे अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों का गुलाम बना देता है। अन्याय उसे भयग्रस्त करके उसकी सृजन शक्ति को दबा देता है। लेकिन यह तो भौतिक मुक्ति की बात हुई। उसकी मानसिक मुक्ति भी कम महत्व की नहीं। राग और द्वेष, चिन्ता और अभिनिवेश, क्रोध एवं लोभ आदि से वह कितना अधिक परेशान रहता है, इसका तो हम हृदय द्रावक दृश्य बढ़ती हुई मानसिक व्याधियों में देख सकते हैं। मनुष्य की भौतिक सुख-समृद्धि भले ही बढ़ी हो, लेकिन उसका मानसिक सुख एवं उसकी शान्ति भी बढ़ी है, यह नहीं कहा जा सकता है। शायक उपनिषद् की बात ही सही है—"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो।" इसीलिये तो मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से विनम्रता पूर्वक निवेदन किया था—"येनाहं नामृतास्यां, किमहं तेन कुर्याम् ?" कांचन, कामिनी एवं कीर्ति—तीनों से परिपूर्ण गौतम ने किसी आर्थिक या भौतिक कारण से गृह-त्याह नहीं किया था। इसका अर्थ है कि मानव के लिये कुछ समय तक तो भौतिक अभाव, शाब्दिक एवं शास्त्रीय अज्ञान एवं सामाजिक, राजनैतिक अन्याय के बन्धन रहते हैं, और फिर मानसिक असन्तोष, असन्तुलन और अशान्ति से भी वह छुटकारा चाहता है। अतः मुक्ति ही प्रकारान्तर से मानव की सबसे बड़ी अभीप्सा है। कभी वह भाग्य द्वारा छला जाता है, कभी प्रकृति उसे धोखा दे डालती है, फिर उसके माथे के ऊपर अनिवार्य मृत्यु की लटकती तलवार भी उसे न सुख से जीने देती है, न शान्ति से मरने ही देती है। यही नहीं, भारतीय चिन्तन परम्परा में इसी जीवन में उसके सम्पूर्ण दु.ख निःशेष नहीं हो जाते। बार-बार उसे कर्मफल के अनुसार जन्म लेना पढ़ता है और मरना पड़ता हैं—"पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे करणं।" ऐसी स्थिति में यदि वह इस जन्म-मरण के बन्धन से ही छुटकारा चाहता है, तो न यह अस्वाभाविक है, न अव्यावहारिक। मुक्ति की चाह कोई स्वप्न-विहार नहीं, कोई भाषा-विश्लेषण नहीं, बल्कि मानव प्रकृति की अनिवार्य माँग है।

तत्व मीमांसा की भाषा में जिसे हम मुक्ति कहते हैं, समाजशास्त्र के संदर्भ में उसे ही हम मानव की स्वायत्ता या स्वतन्त्रता कह सकते हैं। मानव तो क्या, पशु-पक्षी भी स्वतन्त्रता ही चाहते हैं। मुक्त आकाश में विचरण करता हुआ पक्षी सोने के पिंजड़ों में कैद होने के लिये कभी नहीं तरसता है। खूंटे में बँधा पशु हमेशा मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरण करना चाहेगा। इसीलिये मानव का सर्वोत्कृष्ट जीवन-मूल्य है—स्वतन्त्रता। संभवतः इसीलिये फ्रांस की क्रान्ति का मन्त्र "स्वतन्त्रता" के साथ समता एवं भ्रातृत्व है। भारत में भी स्वतन्त्रता के इसी जीवन-मूल्य को तिलक और गाँधी ने "स्वराज्य" की संज्ञा दी जिसका महत्व वैदिक-वाङ्मय में भी वर्णित है। स्वतन्त्रता की भावना मानव की स्वायत्ता को अभिव्यक्त करती है। इसलिये इसके साथ किसी दूसरे जीवन मूल्य के साथ लेन-देन का बनियाशाही हिसाब नहीं किया जा सकता। यह स्वतन्त्रता ही जनतान्त्रिक जीवन-मूल्य का आधार है। लेकिन पश्चिम की पूँजीवादी वाणिज्य वृत्ति की सभ्यता ने इस स्वतन्त्रता के साथ भी कुत्सित और गर्हित सौदेबाजी करके जनतन्त्र के सच्चे स्वरूप को विकृत कर दिया। निहित स्वार्थ ने आर्थिक समता की बात भुलाकर लोकतन्त्र को इतना नग्न कर दिया कि करोड़ों भूखी जनता के लिये यह निरर्थक एवं अप्रासांगिक बन गया है। यही कारण था कि रूसों ने "स्वतन्त्रता" के

८

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

साथ ही "समता" को जोड़ा था। आर्थिक लोकतन्त्र के बिना राजनैतिक लोकतन्त्र मात्र औपचारिक बन गया और यही कारण है कि कैरो से लेकर जकार्त्ता तक विकासशील देशों में लोकतन्त्र आकर भी अदृश्य हो गया। दो तिहाई जनसंख्या को गरीबी रेखा के नीचे रखकर तथा प्रायः उतने ही लोगों को निरक्षर रखकर भारतीय लोकतन्त्र भी कितने दिनों तक जी सकेगा—कहा नहीं जा सकता है। आज जिस प्रकार संसद् एवं विधायिका का अंकुश क्षीण होता जा रहा है, जिस प्रकार न्यायपालिका भी कार्यपालिका के समक्ष हतप्रभ होकर समपर्ण की मुद्रा में आ गयी है, जिस प्रकार संचार के साधनों पर सत्ता एवं पूँजीपतियों का सम्मिलित आधिपत्य है, जिस प्रकार लोकतन्त्र के स्तम्भ एक पर एक टूट रहे हैं, तथा कार्यपालिका के भी अधिकार सिमटकर वर्गतन्त्र एवं एकतन्त्र को जा रहे हैं, उस संदर्भ में हमारी स्वतन्त्रता भी मानो गिरवी रक्खी जा चुकी है। लेकिन लोकतन्त्र का विकल्प कभी भी अधिनायक तन्त्र नहीं हो सकता चाहे वह रूस-चीन में सर्वहारा या साम्यवाद के नाम पर हो या पाकिस्तान-ईरान में इस्लाम के नाम पर। विकृत लोकतन्त्र का विकल्प, परिष्कृत लोकतन्त्र ही होगा। कारण के लिये पुनः मूल में जाना होगा कि लोकतन्त्र के अन्तर्निहित स्वतन्त्रता का जीवन-मूल्य मानव-मुक्ति के साथ जुड़ा हुआ है। मुक्त-मन और मुक्त-मानव से ही सृजन संभव है, वही व्यवस्था में परिवर्तन और परिष्कार भी कर सकता है। पशु की तरह बँधा मानव विश्व को न कोई अवदान दे सकता है, न वह सुख-शान्ति से जीवन ही व्यतीत कर सकता है। आज अधिनायकवादी व्यवस्था तन्त्र में भी मानवीय स्वतन्त्रता की भूख और प्यास प्रकट हो रही है। युगोस्लाविया ने रूसी प्रभाव से अपनी राष्ट्रीय अस्मिता एवं स्वायत्तता को अक्षुण्ण रखने के लिए जो किया है, वह स्पष्ट है। पुनः उसी युगोस्लाविया के अन्दर वहाँ के संगठन के शीर्ष में रहे, श्री मिलवन जिलास ने मानवीय एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता लिए न जाने कितनी यन्त्रणाएँ सही। इटली आदि कई यूरोपीय देशों में यूरो-कम्यूनिज्म के नाम से साम्यवाद के जीवन-मूल्य के साथ मानवीय स्वतन्त्रता के मूल्य को साथ करके देखा जा रहा है एवं जहाँ मार्क्स-एंजेल्स को स्वीकार किया जाता है, वहाँ लेनिनवाद का परित्याग करके नृशंस साम्यवाद के बदले अमानवीय साम्यवाद की कल्पना की जा रही है। स्वयं रूस में पेस्टर नाइक, सोलजिन्सटीन और आज सोखोरोव दम्पति सौम्य ढंग से ही, सही स्वतन्त्रता के जीवन-मूल्य के लिये जूझ रहे हैं। पोलैंड में ९० लाख से अधिक मजदूर वेलेशा के नेतृत्व में स्वतन्त्र श्रमिक आन्दोलन के लिये संघर्षशील हैं। चीन में भी माओ के बाद उदारवाद का एक उतार आया ही था। स्टालिन के बाद रूस में भी क्रुश्चेव के समय साम्यवादी शासन में कुछ उदारता आयी थी। असल में स्वतन्त्रता मानव का शाश्वत जीवन-मूल्य है, उसके बिना उसे संतोष एवं शान्ति नहीं मिलती। यही है कि मुक्ति की चाह। असल में साम्यवाद ने मानव को एक वस्तु मानकर उसके साथ यान्त्रिक दृष्टि से व्यवहार करना चाहा। उसने उसके भौतिक पक्ष को जितनी गहराई से समझा, उसके बौद्धिक एवं आध्यात्मिक पक्ष को नहीं। इसीलिये साम्यवाद मानव मुक्ति की घोषणा तो करता है, लेकिन वह उसे मुक्ति दे नहीं पाता।

यह ठीक है कि मानवीय-मूल्य या उसकी स्वतन्त्रता शून्य से न उद्भूत होती है और न शून्य में अवस्थित रहती है। इसलिये मानव-मूल्यों के उन्नयन के लिये मानव के आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक संदर्भों को भी समुन्नत करना होगा। इसी को बापू "स्वराज" कहते थे। यही उनकी "जड़मूल से क्रान्ति", डा० लोहिया की "सप्तक्रान्ति" और जे० पी० की "सम्पूर्ण क्रान्ति" है। मानव-मूल्यों का अभ्युत्थान यदि नाम और जप, पूजा और प्रार्थना से ही हो जाता, तो गाँधी हिमालय की गुफाओं में जाकर साधना करते। लेकिन वे तो आजीवन गलत समाज-व्यवस्था, गलत राजनीति, गलत शिक्षा आदि से संघर्ष करते रहे। हृदय परिवर्तन और विचार परिवर्तन के साथ उन्होंने व्यवस्था परिवर्तन को अत्यधिक महत्व दिया। उन्होंने "ईश्वर अल्ला तेरे नाम" की प्रार्थना ही नहीं की, बल्कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए नोआखाली और बिहार में घूमते हुए उसके लिए अपनी शहादत दी। उन्होंने "अछूतों", को केवल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिजन ही नहीं बनाया बल्कि कठोर सत्याग्रह के द्वारा उनके लिए मन्दिरों के द्वार भी खुलवाये और उन्हें हिन्दूजाति से अलग करने के दुष्चक्र को विफल कर देने के लिए आमरण अनशन के द्वारा अपने प्राणों की बाजी भी लगा दी। केन्द्रित अर्थव्यवस्था या केन्द्रित राजव्यवस्था में मानव की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कुठाराघात देखकर उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में खादी-ग्रामोद्योग की विकेन्द्रित व्यवस्था एवं राजनैतिक क्षेत्र में ग्राम-स्वराज्य या पंचायती व्यवस्था आदि की नींव डाली और स्वयंसेवी संस्थाओं का जाल बिछा डाला। वे शान्ति के मन्त्रदाता ही नहीं बने, पुलिस के विकल्प में शान्ति-सेना का संगठन बनाया। पूँजीवाद और साम्यवाद के विकल्प के रूप में ट्रस्टीशिप का विचार तथा शोषण एवं उत्पीड़न के लिये असहयोग एवं अवज्ञा की रणनीति भी रक्खी। शिक्षा के क्षेत्र में एक ऐसी शिक्षा की योजना रक्खी जिसमें मानव की समग्रता सुरक्षित रहे और मानव को मुक्ति मिल सके—"सा विद्या या विमुक्तये।" संक्षेप में, गाँधी ने मानवीय-मूल्यों के अभ्युत्थान के लिये मानव की स्वतन्त्रता के अनुरूप समाज-व्यवस्था की संरचना की। गाँधी मानव-मुक्ति के मन्त्र-द्रष्टा और स्वयं द्रष्टा ही नहीं बने, बल्कि ऐसी समाज-व्यवस्था के आचार्य भी बने जिसमें मानव स्वतन्त्रता की साँस ले सके। उसका मस्तक ऊँचा रहे, मस्तिष्क उन्मुक्त रहे एवं हृदय उदात्त एवं उदार रहे।

यही कारण था कि गाँधी निष्ठावान हिन्दू होते हुए भी हिन्दुत्व की संकीर्णताओं से मुक्त रहे, प्रबल देशभक्त होते हुए भी संकुचित देशाभिमानी नहीं बने, हरिजनों के परम मित्र होकर भी सवर्णों के प्रति विद्वेष नहीं रक्खा और अंगरेजी शासन से सदैव संघर्ष करते हुए भी अंगरेजों से कभी घृणा नहीं की। गाँधी ने बुराई से संघर्ष किया, बुरे आदमी के लिये दुर्भावना नहीं रक्खी। असल में उसे मानव की अन्तर्निहित साधुता में अखण्ड विश्वास था। उसके अनुसार, मानवों के बीच प्रेम नैसर्गिक एवं स्वाभाविक है। हाँ, झंझट-झगड़े की वजहें हुआ करती हैं। यदि हम एक ऐसी मानवीय समाज-व्यवस्था का निर्माण कर विग्रह के कारणों को दूरकर सकें, तो मानव मूल्यों का ह्रास अवश्य रुक जायगा। आध्यात्मिक और नैतिक अभ्युत्थान के अलग से बड़े-बड़े साइन बोर्ड लगाने एवं उसके आन्दोलन खड़े करने से मानव-मूल्यों का ह्रास नहीं रुक सकता, जैसा मैंने प्रारम्भ में निवेदन किया था कि आज साम्यवाद से लड़ने का भी अमरीकी सी० आई० ए० द्वारा चालित शिखंडीनुमा तरीका (एम० आर० ए०) प्रतिक्रियोत्पादक (रिएक्शनरी) होगा। दुर्भाग्य से जनतंत्र का सबसे बड़ा भौगोलिक क्षेत्र संयुक्त राज्य अमरीका विश्व में अधिनायकवादी सत्ता का ही पृष्ठ पोषण करता रहा है, चाहे वह भारत-पाक के बीच पाकिस्तान को मदद देने का हो, या जेरेन्डा, एल सल्वाडोर, ब्राजिल आदि देशों की जनवादी सरकारों के खिलाफ उन सरकारों को उलटने का सवाल हो। उसी तरह आनन्द मार्ग, जयगुरूदेव, साईं-बाबा, ब्रह्म कुमारी, गायत्री यज्ञ तथा अन्य धार्मिक पुरातनवादी संस्थाओं के द्वारा नैतिक-आध्यात्मिक उन्नयन के कामों के विषय में गंभीरता पूर्वक चिंतन करना होगा कि समाज के ज्वलन्त आर्थिक-राजनैतिक-सामाजिक समस्याओं के समाधान के बिना नैतिक उन्नयन का विचार एक दिवास्वप्न रहेगा। आधुनिक भारत में अध्यात्म के नाम पर मन्त्रवाद और नैतिकता के नाम पर मात्र धार्मिक एवं नैतिक प्रवचन का ज्वार उठ रहा है। लेकिन इस तथा कथित नैतिक-आध्यात्मिक-धार्मिक घटाटोप से सामाजिक क्रान्ति की धार कुंद करने का दुश्चक्र वृथा होगा। आग पर राख डाल देने से आग नहीं बुझती है, वह दब जाती है। अतः नैतिक मूल्यों के ह्रास को रोकने के लिये राजनीति का कायाकल्प सोचना होगा। भ्रष्ट से भ्रष्ट राजनेता इन नैतिक गुरुओं से आशीर्वाद ले जाय, इससे नैतिकता का राजनीतिकरण होता है, राजनीति का अध्यात्मीकरण नहीं। राजनीति कोई अस्पृश्य वस्तु नहीं जिसे हम छुएँ नहीं। याद रक्खे—"सर्वे धर्मा राजधर्मे निमग्नाः।" यह आवश्यक नहीं कि राजनीति के पद पर हम जाय ही, लेकिन राजनीति एवं राजनेताओं पर यदि नैतिक एवं धार्मिक नेता अपनी कड़ी निगाह एवं कठोर अनुशासन नहीं रक्खेंगे तो राजनीति उनका भी शोषण करने से नहीं चूकेगी। राजनैतिक भ्रष्टाचार, सिद्धान्तहीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजनीति से उत्पन्न दल-बदल की व्याधि, सम्प्रदाय एवं जाति तथा पैसे की थैली एवं बन्दूकों की नोंक पर वोट प्राप्ति के खिलाफ जबतक जेहाद नहीं बोला जायगा, नैतिक मूल्यों के उन्नयन की बात मृग-मरीचिका ही रहेगी। इसी प्रकार आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूढ़ियों पर कठोर से कठोर प्रहार करने पड़ेंगे। नैतिक उत्थान के आन्दोलन एवं आर्थिक क्षेत्र में, मिलावट, जमाखोरी, चोर-बाजारी साथ-साथ नहीं चल सकते, दहेज, शराब, अस्पृश्यता एवं साम्प्रदायिक विद्वेष के साथ धर्म की बातें नहीं हो सकती।

नैतिक उन्नयन के लिये कोई शार्ट कट नहीं है। इसके लिये समाज का समग्र-परिवर्तन परमावश्यक है। समाज-परिवर्त्तन को दर किनार रखकर हम नैतिक अभ्युत्थान की चर्चा कर स्वयं अपने को धोखा देंगे। मानवीय मूल्य और समाज में अन्तः सम्बन्ध को हम जितनी दूर तक अपने विचार एवं आचार में स्वीकार कर सकेंगे, उसी मात्रा में मानवीय मूल्य की प्रतिष्ठा होगी।

●

अष्टादश दोष विमुक्त धर्म

आधुनिक युग में सच्चा धर्म वह है जिसमें कुन्दकुन्दोक्त सद्गुरु के अठारह दोषों के समान निम्न अठारह दोष न हों:

१. क्षमाशील ईश्वर की मान्यता
२. जातिपाँति, उच्च-नीच की मान्यता
३. नर-नारी विषमता
४. पलायनवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन
५. संसार की दुखमयता की मान्यता
६. पूर्ण ज्ञानित्व की मान्यता
७. पशु बलि की स्वीकृति
८. शास्त्र/आगम की प्रकांड प्रामाणिकता
९. अवनतिशील संसार की मान्यता
१०. वाह्यलिंग की मान्यता
११. परंपरामोह का प्रश्रय
१२. अनर्थक कष्टों की पूज्यता
१३. दिग्विजयादि की पुण्यात्मकता
१४. विषमताओं का प्रश्रय
१५. क्रियाकांड की मुख्यता
१६. सद्गुणों की भी पापमयता
१७. काल्पनिक सृष्टि-रचना
१८. चमत्कारिकता

—'संगम'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org